

अष्टाङ्ग योग महर्षि पतञ्जलि एवं महर्षि दयानन्द की दृष्टि में

डॉ. बलवीर आचार्य

सेवानिवृत्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,

संस्कृत विभाग तथा महर्षि दयानन्द शोध पीठ

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा

Email: balviracharya@gmail.com

जब जीवात्मा अपने चित्त की वृत्तियों को रोक लेता है तब अपने स्वरूप में स्थित होकर परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। यह योग कहलाता है।¹ कठोपनिषद् में योग का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि:- जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां, मन, बुद्धि और इन्द्रियां पूर्णरूप से शान्त-स्थिर हो जाती हैं। इस अवस्था का नाम योग है।² गीता में कहा गया है कि कर्तव्य कर्मों को कुशलतापूर्वक = फल प्राप्ति के अधिकार को छोड़कर करना एवं प्रत्येक परिस्थिति में समान भाव रखना योग कहलाता है।³

इस प्रकार योग के दो उद्देश्य हैं-एक पारमार्थिक=इन्द्रियों को वश में करके आत्मसाक्षात्कार एवं परमात्मा का साक्षात्कार करके मोक्ष प्राप्त करना। दूसरा उद्देश्य है-व्यवहारिक=हानि-लाभ, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी आदि परिस्थितियों में समान रूप से कर्तव्य कर्मों को करते हुए फल प्राप्ति के अधिकार की चिन्ता से मुक्त रहना।

योग के विभिन्न भेद : भारतीय परम्परा में प्रचलित योग के सिद्धान्तों को निम्नलिखित सात भागों में विभाजित किया जा सकता है :- (1) सांख्ययोग अथवा ज्ञानयोग, (2) कर्मयोग, (3) भक्तियोग, (4) मंत्रयोग, (5) लययोग, (6) हठयोग और (7) राजयोग अथवा अष्टाङ्गयोग। इनका परिचय निम्नलिखित है :-

- (i) योगश्चित्त-वृत्ति-निरोधः। (योग दर्शन 1.2)
(ii) योगः समाधिः। (योग दर्शन व्यास भाष्य 1.1)
- यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरमिन्द्रिय धारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥
(कठोपनिषद् अध्याय-2, वल्ली-3.10.11)
- योगः कर्मसु कौशलम् (गीता 2.50)
समत्वं योग उच्यते। (गीता 2.48)

1. सांख्ययोग अथवा ज्ञानयोग

जब जीवात्मा जब परमात्मा एवं प्रकृति का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह सांसारिक दुःखों से मुक्त हो जाता है। इसी का नाम सांख्ययोग है।

जब जीवात्मा मन, बुद्धि, अहंकार, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी और इन सबके उपादान कारण प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके इनसे अपनी सत्ता को पृथक् मानकर आत्मसाक्षात्कार और परमात्मा का साक्षात्कार करता है तब सब दुःखों का अन्त हो जाता है और वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

योगेश्वर भगवान् श्री कृष्ण जी कहते हैं जैसे अग्नि प्रज्वलित होकर काठ को भस्म कर देती है। वैसे ही ज्ञान रूपी अग्नि जीवात्मा के अविद्यादि सब विकारों को भस्म कर देती है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मासात्कुरुतेऽर्जुनः।

ज्ञानाग्निः सर्वं कर्माणि भस्मात् कुरुते तथा ॥

(गीता 4.37)

इसी कारण ज्ञान के समान पवित्र और मुक्तिदायक साधन दूसरा नहीं है। इस ज्ञान से ही जीवात्मा स्वयं अपना साक्षात्कार योग के द्वारा कर लेता है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत् स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

(गीता 4.38)

इस सांख्ययोग अथवा ज्ञानयोग के प्रथम व्याख्याता महर्षि कपिल थे।

2. कर्मयोग

निष्कामता, निस्संगता, फल के प्रति अधिकार का त्याग, अपने को निमित्तमात्र बनाकर कर्मों का निर्वाह और भगवान् के प्रति समर्पण भाव से कर्म करना व्यवहारिक दृष्टि से यथार्थ एवं अद्भुत योग का रूप है। इसको ही कर्मयोग या निष्काम कर्मयोग कहा जाता है।

निष्काम कर्मयोग का सिद्धांत अपना लेने पर जीवन की बहुत सी समस्याओं का समाधान स्वतः हो जाता है। जब व्यक्ति कर्म के फल की चिन्ता छोड़कर अपने कर्तव्य कर्मों का पालन करेगा, तब वह सुख-दुःख, भय, चिन्ताओं से ऊपर उठ जायेगा। निष्काम कर्म का या कर्म के फल की चिन्ता छोड़ने का यह भाव नहीं है कि-कर्म का फल तो मिलना नहीं फिर कर्म क्यों करें? और कर्म करना ही छोड़ दें। कर्म का फल तो कारण-कार्य नियम से अवश्य मिलेगा। गीता का सन्देश यह है कि-जब हम कर्म के फल पर अपना ध्यान केन्द्रित कर लेते हैं तब हमें दुविधा, चिन्ता और भय सताने लगते हैं कि-इस कर्म का फल मिलेगा या नहीं। कब मिलेगा? कोई बाधा तो नहीं

आ जायेगी ? आदि-आदि। इसके फलस्वरूप हमारा ध्यान पूर्ण रूप से कर्म में नहीं लगता, जो शक्ति कर्म करने में लगनी चाहिए थी वह फल की चिन्ता में नष्ट हो जाती है। फलस्वरूप कर्म करने में कमी रह जाती है। फल कर्म का ही मिलेगा, जब कर्म में कमी रह गयी तो फल में भी कमी रह जायेगी। यह है गीता के निष्काम कर्मयोग का सार। इस विषय में गीता का निम्नलिखित विवेचन पठनीय है-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफल हेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

(गीता 2.47)

अर्थात्-कर्म करने में ही तेरा अधिकार है। कर्म के फल का अधिकार तेरा नहीं है। अर्थात् तेरे हाथ में कर्म करना है उसका फल प्राप्त करना तेरे हाथ में नहीं। वह किसी और के हाथ में है। यदि तू कर्म का फल प्राप्त करने में अपना अधिकार समझ लेगा तो परेशान हो जायेगा। अतः इस कर्म का यह फल मुझे अवश्य मिले यह सोचकर कर्म न कर, और न ही कर्म को छोड़कर बैठ। अर्थात् कर्म अवश्य कर, फल तो मिलेगा ही, उसकी चिन्ता में पड़कर उस पर अधिकार मानकर परेशान मत हो।

योगस्थ कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योगः उच्यते ॥

(गीता 2.48)

अर्थात् - हे अर्जुन! योगस्थ होकर, कर्मयोग में स्थित होकर, कर्म के फल की आसक्ति को छोड़कर, कर्त्तव्य कर्म करो। कर्त्तव्य कर्म करते हुए चाहे सफलता मिले, चाहे असफलता, दोनों स्थितियों में समान भाव रखकर अपने कर्त्तव्य कर्म में लगे रहो। प्रत्येक परिस्थिति में सम भाव रखना ही योग है।

इस प्रकार जब निष्काम कर्म करने का भाव मन में बैठ जायेगा, तब सारा ध्यान कर्म करने में लगेगा। फलस्वरूप व्यक्ति कुशलतापूर्वक कर्म करेगा। गीता के अनुसार कर्मों को कुशलतापूर्वक करना और प्रत्येक परिस्थिति में एक समान रहना ही योग कहलाता है।

योगः कर्मसु कौशलम्।

(गीता 2.50)

समत्वं योग उच्यते।

(गीता 2.48)

3. भक्तियोग

भौतिक कामनाओं को सर्वथा त्यागकर परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण भाव रखते हुए, उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करना भक्ति कहलाती है। मन, वचन और कर्म से ईश्वर के प्रति पूर्ण अनुराग और समर्पण करके अपने कर्त्तव्य कर्मों में लगे रहना ही भक्ति का रूप है।

4. मन्त्रयोग

ईश्वर के निज नाम “ओ३म्” अथवा गायत्री आदि किसी मन्त्र का जप करते हुए, उस जप में ही मन को स्थिर कर लेने का नाम “मन्त्रयोग” है। जप की चार विधियां हैं - (1) वाचिक (2) उपांशु (3) मानसिक और (4) अजपाजप।

वाणी से बोलकर जप करना “वाचिक” होता है। जब जप करने वाले की आवाज उसके अतिरिक्त किसी अन्य को न सुनाई दे तब “उपांशु” जप होता है। जब बिना जीभ हिलाये मन-मन में ही जप किया जाता है, वह “मानसिक” जप है। और जब जप स्वयं चलता रहता है, जप करने वाला साक्षी भाव से केवल उसे सुनता रहता है उसे “अजपाजप” कहते हैं।

5. लययोग

जब मन परमात्मा के ध्यान में हर समय लीन रहता है। तब लययोग की स्थिति होती है। चलते, बैठते, उठते, सोते समय अर्थात् हर क्षण परमात्मा के ही ध्यान में मन लगा रहे। नाद की ध्वनि पर ध्यान केन्द्रित करके मन को पूर्ण रूप से नाद में लीन करने को भी लययोग कहते हैं।

6. हठयोग

इसको कुण्डलिनीयोग अथवा प्राणयोग भी कहा जाता है। ‘हठ’ इस शब्द में दो अक्षर हैं- ‘ह’ एवं ‘ठ’। ‘ह’ का अर्थ है-सूर्य स्वर (दायीं नाक से चलने वाला श्वास-प्रश्वास) तथा ‘ठ’ का अर्थ है-चन्द्र स्वर (बायीं नाक से चलने वाला श्वास-प्रश्वास)। इन दोनों स्वरों को मिलाकर सुषम्णा नाड़ी में प्रवाहित करना = ह और ठ को मिलाना ही हठयोग कहलाता है। हठयोग में आसन, प्राणायाम, मुद्रा, क्रिया तथा नाद के अनुसन्धान को प्राथमिकता दी जाती है। हठयोग और राजयोग (समाधि) एक-दूसरे के पूरक होते हैं।

7. राजयोग अथवा अष्टाङ्ग योग

यह योग उपर्युक्त सब प्रकार के योगों में प्रमुख होने के कारण ‘राजयोग’ कहलाता है। इसे समाधि योग भी कहा जाता है। क्योंकि इस योग का उद्देश्य है-समाधि लगाकर आत्मसाक्षात्कार एवं परमात्मा का साक्षात्कार करके मोक्ष प्राप्त करना। इस योग का विस्तृत विवेचन महर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन में अष्टाङ्ग योग के रूप में किया है। ऊपर वर्णित सांख्ययोग या ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, लययोग और हठयोग के सब अष्टाङ्ग योग के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसी कारण यह योग सबसे प्रमुख है।

अष्टाङ्ग योग का परिचय

अष्टाङ्ग योग के अन्तर्गत परिगणित योग के आठ अङ्ग निम्नलिखित हैं⁴:-

- | | | | |
|----------------|-----------|-----------|---------------|
| 1 (यम) | (2) नियम | (3) आसन | (4) प्राणायाम |
| (5) प्रत्याहार | (6) धारणा | (7) ध्यान | (8) समाधि |

इनमें प्रथम पांच अङ्गों को बहिरङ्ग योग कहा जाता है और अन्तिम तीन अङ्गों को अन्तरङ्ग योग। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने योग के इन आठ अङ्गों को मुक्ति दायक माना है।⁵ इनका विवेचन निम्नलिखित है :-

यम - यम के पांच भेद हैं⁶ :-

(क) अहिंसा (ख) सत्य (ग) अस्तेय (घ) ब्रह्मचर्य (ङ) अपरिग्रह

(क) अहिंसा :- मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी को मानसिक और शारीरिक किसी प्रकार का कष्ट न देना अहिंसा कहलाती है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार- “अहिंसा=अर्थात् सब प्रकार से, सब काल में, सब प्राणियों के साथ वैर छोड़ प्रेम प्रीति से वर्तना”⁷ किसी के प्रति, शत्रुता का भाव रखना, अनिष्ट विचारना, बदले की भावना से हानि पहुँचाने का विचार करना मानसिक हिंसा है। हिंसा की उत्पत्ति-क्रोध, भय, लोभ, मोह, अज्ञान और दुर्बलता से होती है। योग दर्शन में हिंसा के 81 भेद बताये गये हैं :- (1) कृत-स्वयं की हुई (2) कारित-दूसरों से कराई गयी (3) अनुमोदित - दूसरों द्वारा की गयी हिंसा का मन अथवा वचन से समर्थन करना। इन तीन प्रकार की हिंसाओं में से प्रत्येक हिंसा के लोभ, क्रोध और मोह पूर्वक होने से फिर तीन-तीन भेद होते हैं- अर्थात् लोभ के द्वारा कृत, क्रोध के द्वारा कृत और मोह के द्वारा कृत। इसी प्रकार लोभ के द्वारा कारित... आदि। ये लोभ, क्रोध और मोह भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं। मृदु=हल्के, मध्य=मध्य स्तर के और अधिमात्र=अत्यन्त प्रबल। इस प्रकार हिंसा के 27 भेद होते हैं। फिर ये मृदु, मध्य और अधिमात्र भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं। मृदुमृदु, मध्यमृदु, तीव्र मृदु। मृदुमध्य, मध्य-मध्य, तीव्रमध्य आदि....। इस प्रकार हिंसा के 81 भेद होते हैं। यह 81 भेद वाली हिंसा फिर नियम, विकल्प और समुच्चय भेद असंख्य भेदों वाली हो जाती है।⁸

किसी की भलाई के लिए क्रोध, लोभ, मोह आदि से परे रहते हुए, उसको दण्डित करना हिंसा की श्रेणी में नहीं आता। जैसे माता-पिता और गुरु बच्चों को उनके कल्याण के लिए प्रताड़ित करते हैं। अपने कर्तव्य का पालन करते हुए समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिए यदि किसी को हानि पहुँचायी जाती है तो वह भी हिंसा नहीं है।

- | | | |
|----|---|-----------------|
| 4. | यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोष्टावङ्गानि। | - योगदर्शन 2.29 |
| 5. | “आगे जो उपासना योग के आठ अङ्ग लिखते हैं, जिनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।” ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय | |
| 6. | अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचार्य-अपरिग्रहा यमाः। | योगदर्शन 2.30 |
| 7. | ऋग्वेद भाष्य भूमिका-उपासना विषय। | |
| 8. | वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभ क्रोध मोहापूर्वक मृदु मध्याधिमात्रा दुःखज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्ष भावनम्। योग दर्शन 2.34 | |

जैसे डॉक्टर द्वारा की जाने वाली शल्य चिकित्सा, सामाजिक सुरक्षा के लिए अपराधियों को दिये जाने वाले सभी प्रकार के दण्ड और राष्ट्र की रक्षा के लिए शत्रुओं का वध आदि हिंसा की श्रेणी में नहीं आते। गीता इसका उदाहरण है।

अहिंसा का फल - महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में उल्लेख किया है कि-“अहिंसा-प्रतिष्ठायां-तत् सन्निधौ वैरत्यागः।”⁹ इस सूत्र की व्याख्या महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उस प्रकार की है “जब अहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है, तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है, किन्तु उसके सामने वा उसके संग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है।”¹⁰

भाव यह है कि जब योगी का व्यवहार पूर्ण रूप से अहिंसा से परिपूर्ण हो जाता है तब उसका सब प्राणियों से वैरभाव समाप्त हो जाता है और उसके उपदेश को समझने वाले तथा तदनुसार आचरण करने वाले का भी अन्य प्राणियों के प्रति वैरभाव छूट जाता है।

(ख) सत्य :- इन्द्रियों से जैसा प्रत्यक्ष किया हो, अनुमान से जैसा जाना हो और जैसा दूसरों से सुना हो, उसको वैसा ही मानना एवं कहना ‘सत्य’ है। इस विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि - ‘जैसा अपने ज्ञान में हो, वैसा ही सत्य बोले, करे और माने।’¹¹ शास्त्रों में विधान है कि सत्य बोलने का उद्देश्य प्राणिमात्र की भलाई होना चाहिए। यदि सत्य बोलने से किसी निरपराध प्राणी की हानि होती है तो वह पाप है, सत्य नहीं। “**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्**” सत्य वचन ऐसा हो जो प्रिय हो, कड़वा सत्य न बोलें। अन्धे को अन्धा कहना कड़वा सत्य है। इससे बोलने वाले का कोई लाभ नहीं होता, परन्तु उस अन्धे व्यक्ति को कष्ट अवश्य होता है। सत्य प्रकट करने का उद्देश्य भी सामाजिक और राष्ट्रीय हित होना चाहिए, हानि नहीं।¹²

वाणी के चार पाप होते हैं - झूठ बोलना, अनावश्यक बक-बक करते रहना, चुगली या निन्दा करना और कड़वा बोलना। इनसे बचना चाहिए। सोच-विचार कर, मधुर भाषण, सत्य भाषण और हितकारी भाषण (बोलना) करना चाहिए।

सत्य का फल - महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार “सत्याचरण का ठीक-ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता, और करता है, तब वह जो-जो योग्य काम करता और करना चाहता है, वे-वे सब सफल हो जाते हैं।”¹³

9. योगदर्शन 2.35 10. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

11. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

12. सत्यं यथार्थं वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान् सत्यं भवेत्यापमेव भवेत्तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमंप्राप्नुयात्। तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्। योगदर्शन 2.30 व्यास भाष्य

13. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय [तुलना करो-सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्-योगदर्शन 2.36]

(ग) अस्तेय :- स्तेय का अर्थ है - चोरी, न स्तेय = अस्तेय अर्थात् चोरी न करना। मन, वचन और कर्म से दूसरों के पदार्थ को छल-कपट, अन्याय अथवा बिना उनकी अनुमति के ग्रहण न करना 'अस्तेय' कहलाता है। इस विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि-(अस्तेय) "अर्थात् पदार्थ वाले की आज्ञा के बिना किसी पदार्थ की इच्छा न करना इसी को चोरी त्याग कहते हैं"।¹⁴

रिश्वत लेना, बिना परिश्रम के छल-कपट से धन प्राप्त करना, कम तोलना, अपने कर्तव्य का पालन न करके वेतन लेना, अपने कर्तव्य में लापरवाही करना, किसी वस्तु का मूल्य अनुचित लगाना, आदि चोरी के ही भेद हैं।

अस्तेय का फल- "जब मनुष्य शुद्ध मन से चोरी को छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है, तब उसको सब उत्तम पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं। और चोरी इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के बिना अधर्म से उसकी चीज को कपट से वा छिपाकर ले लना।¹⁵"

(घ) ब्रह्मचर्य :- काम वासना से मुक्त होकर, जननेन्द्रिय का संयम करके वीर्य की रक्षा करना 'ब्रह्मचर्य' है। इसकी व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं (ब्रह्मचर्य) "अर्थात् विद्या पढ़ने के लिए बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विवाह का करना, परस्त्री, वेश्या आदि का त्यागना, सदा ऋतुगामी होना, विद्या को ठीक-ठीक पढ़के सदा पढ़ाते रहना और उपस्थ इन्द्रिय का सदा नियम करना।¹⁶"

ब्रह्मचर्य का फल- जब व्यक्ति मन, वचन एवं कर्म से संयम पूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करता है तब उसे शारीरिक एवं बौद्धिक बल की प्राप्ति होती है। शरीर का बल बढ़ने से वह निरोगी एवं दीर्घायु होता है। बुद्धि का बल बढ़ने से वह गंभीर विषयों को आसानी से समझ लेता है।¹⁷ इस विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं- "जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं।¹⁸" वे पुनः लिखते हैं कि 'ब्रह्मचर्य सेवन से यह बात है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रखे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता-पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे और परस्त्री-गमन आदि व्यभिचार को मन, कर्म, वचन से त्याग देवें, तब उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है।¹⁹'

14. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

15. वही [तुलना करो 'अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।'] योगदर्शन 2.37

16. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

17. ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः योगदर्शन 2.38

18. सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास

19. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

(ड) अपरिग्रह :- परि = चारों ओर से, ग्रह = ग्रहण करना। अर्थात् चारों ओर से ग्रहण करना 'परिग्रह' होता है और उसको छोड़ देना अपरिग्रह होता है। (न परिग्रह = अपरिग्रह)।

अपरिग्रह का भाव यह है कि आवश्यकता से अधिक उपभोग के साधनों का संग्रह नहीं करना चाहिए। अन्यथा उन साधनों को एकत्रित करने में ही बहुत सी शक्ति लग जायेगी, फिर उनकी रक्षा में शक्ति लगेगी और जब वे नष्ट होंगे तो अपार कष्ट होगा। योग दर्शन में अपरिग्रह की व्याख्या करते हुए महर्षि व्यास ने उल्लेख किया है कि - 'विषयाणामर्जन-रक्षण-क्षय-सङ्ग-हिंसा-दोष-दर्शनाद्-अस्वीकरणमपरिग्रह²⁰' अर्थात् विषयों में उपार्जन, रक्षण, क्षय, हिंसा, दोष देखकर विषय भोग की दृष्टि से उनका संग्रह न करना, अपरिग्रह है। महर्षि दयानन्द अनावश्यक दुर्गुणों के परित्याग को भी अपरिग्रह की श्रेणी में रखते हैं। यथा-'अपरिग्रह अर्थात् विषय और अभिमान आदि दोषों से रहित होना।²¹' "(अपरिग्रह) अत्यन्त लोलुपता स्वत्वाभिमान रहित होना²²" उपर्युक्त संदर्भ में अपरिग्रह की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि-हानिकारक, अनावश्यक, भौतिक पदार्थ और अभिमान आदि हानिकारक नकारात्मक विचारों को त्याग देना अपरिग्रह कहलाता है।

वैदिक संस्कृति में धन-सम्पत्ति, सुख, सुविधाओं को प्राप्त करने का निषेध नहीं है, परन्तु इस संस्कृति में यह निर्देश अवश्य है कि - धन-सम्पत्ति, सुख, सुविधा प्राप्त करना ही आत्मा का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। धन-सम्पत्ति को प्राप्त करके, आत्म-साक्षात्कार एवं परमात्मा का साक्षात्कार करें और मोक्ष के परम आनन्द का उपभोग करें। यही सन्देश महर्षि पतञ्जलि अपरिग्रह के माध्यम से दे रहे हैं कि-आवश्यकता अनुसार धन आदि अर्जित करते हुए मोक्ष की ओर भी बढ़ते रहो। केवल धनार्जन ही अपना लक्ष्य न बनाओ।

अपरिग्रह का फल- इस विषय में योग दर्शन के "अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तासम्बोधः।²³" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि- 'अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूँ, कहां से आया हूँ और मुझको क्या करना चाहिए, अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा, इत्यादि शुभ गुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है।²⁴

यमों के पालन की अनिवार्यता

उपर्युक्त पांच यम योग मार्ग के पथिक के लिए प्रथम सोपान हैं। इनके पालन से चित्तवृत्ति बाह्य विषयों से हटकर आत्म साक्षात्कार की ओर अग्रसर होती है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार ये पांच यम जाति, देश और काल की सीमाओं में न बन्धने वाले पृथिवी के समस्त मानवों की उन्नति के मूल व्रत हैं।²⁵ अतः इन्हें "महाव्रत" कहा

20. द्र. योगदर्शन व्यास भाष्य 2.30

21. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

22. सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास

23. योगदर्शन 2.39

24. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

25. जाति-देश-काल-समय-अविच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्-योगदर्शन 2.31

गया है। महर्षि मनु इन यमों के पालन को अनिवार्य बताते हुए लिखते हैं

‘यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः । यमान् पतत्य कुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्’²⁶

“यमों के बिना केवल इन नियमों का सेवन न करें, किन्तु इन दोनों का सेवन किया करें। जो यमों का सेवन छोड़ के केवल नियमों का सेवन करता है वह उन्नति को नहीं प्राप्त होता, किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता है।²⁷”

न केवल व्यक्तिगत कल्याण के लिए अपितु सामाजिक कल्याण, शान्ति और सुव्यवस्था के लिए भी उपर्युक्त पांच यमों का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। प्रशासन का भी दायित्व है कि वह इनका पालन प्रत्येक व्यक्ति से कराये। यदि इनका पालन नहीं होगा तो समाज का नैतिक पतन होगा और अराजकता फैल जायेगी। जैसे कि रिश्वत, भ्रष्टाचार, आतंकवाद और अश्लीलता से सामाजिक समरसता समाप्त हो रही है।

2. नियम – नियम भी पांच हैं²⁸ :-

(क) शौच (ख) सन्तोष (ग) तप (घ) स्वाध्याय और (ङ.) ईश्वर प्रणिधान। इनका पालन व्यक्तिगत जीवन के लिए आवश्यक है।

(क) शौच:- शौच का अर्थ है-शुद्धि करना। शुद्धि दो प्रकार की होती है-बाह्य शुद्धि और आभ्यन्तर शुद्धि। बाह्य शुद्धि से अभिप्राय है-अपने शरीर, वस्त्र, निवास स्थान और अपने परिवेश आदि को सब प्रकार से साफ करना। आभ्यन्तर शुद्धि का अभिप्राय है। चित्त के मलों को दूर करना अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह, क्रोध, राग आदि मलों का और उनके कारणों का परित्याग करना।

इस विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती का कथन है कि “शौच” अर्थात् पवित्रता करनी सो भी दो प्रकार की है। एक भीतरी और दूसरी बाहर की। भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्य भाषण, विद्याभ्यास, सत्सङ्ग आदि शुभ गणों के आचरण से होती है और बाहर की पवित्रता जल आदि से शरीर, स्थान, मार्ग, वस्त्र, खाना, पीना आदि शुद्धि करने से होती है।²⁹

महर्षि मनु कहते हैं-जलादि से शरीर के बाह्य अंग शुद्ध होते हैं। मन सत्य बोलने से शुद्ध होता है। विद्या और तप से जीवात्मा शुद्ध होती है और ज्ञान-विज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है।³⁰ इस विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि-‘जल से ऊपर के अंग पवित्र होते हैं, आत्मा और मन नहीं। मन तो सत्य मानने, सत्य बोलने और

26. मनु स्मृति 4.204

27. सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास।

28. शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वर-प्रणिधानानि नियमाः। योगदर्शन 2.32

29. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

30. अद्धिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति। मनु स्मृति 5.109

सत्य करने से शुद्ध और जीवात्मा विद्या, योगाभ्यास और धर्माचरण से ही पवित्र तथा बुद्धि ज्ञान से ही शुद्ध होती है, जल मृत्तिकादि से नहीं।³¹

शौच का फल- इस विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती का कथन है कि-“पूर्वोक्त दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उसके सब अवयव बाहर और भीतर से मलिन ही रहते हैं, तब ओरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सबके शरीर मल आदि से भरे हुए हैं। इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच करके सदा अलग रहता है। और इसका फल यह है कि शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है।³²”

(ख) सन्तोष :- इस शब्द की व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि “सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं, किन्तु पुरुषार्थ जितना हो सके उतना करना, हानि लाभ में हर्ष वा शोक न करना।³³” वे पुनः लिखते हैं कि -[सन्तोष] “जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना और दुःख में शोकातुर न होना। किन्तु आलस्य का नाम सन्तोष नहीं है।”³⁴ अभिप्रायः यह है कि उचित मार्ग पर चलते हुए पूर्ण पुरुषार्थ के बाद प्राप्त साधनों से अधिक ग्रहण करने की इच्छा न करना “सन्तोष” कहलाता है।³⁵ सन्तोष का अर्थ प्रमाद या आलस्य नहीं है। अपितु पूर्ण पुरुषार्थ के बाद जो प्राप्त होता है उसी में प्रसन्नता का अनुभव करने का नाम है। यदि प्राप्त वस्तु से सन्तुष्ट न होकर अधिक की कामना में दुःखी रहेंगे तो अनेक प्रकार के मानसिक कष्टों को भोगना पड़ेगा और आगे पुरुषार्थ में भी कमी आयेगी।

सन्तोष का फल- सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः³⁶ योग दर्शन के इस सूत्र का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि- “अर्थात् पूर्वाक्त सन्तोष से जो सुख मिलता है, वह सबसे उत्तम है और उसी को मोक्ष कहते हैं।”³⁷ सन्तोष से योगी की तृष्णा का नाश होता है। तृष्णा के नष्ट होने से तृष्णामूलक समस्त दुःखों का नाश हो जाता है और योगी परम सुख को प्राप्त कर लेता है। यह परम सुख ही परमानन्द की अनुभूति है। इसी को महर्षि दयानन्द ने मोक्ष सुख कहा है। महर्षि व्यास लिखते हैं कि -संसार में जो भी कामना की पूर्ति का सुख है और जो भी दिव्य सुख है, ये दोनों सुख तृष्णा के नाश से प्राप्त होने वाले सुख के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हैं।³⁸

31. संस्कार विधि-गृहाश्रम संस्कार।

32. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय [तुलना करो-शौचात्स्वाङ्ग जुगुप्सा पररैसंसर्गः; एवं-सत्त्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन-योग्यत्वानि च - योगदर्शन 2.40-41]

33. सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास।

34. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

35. सन्तोषः संनिहित-साधनादधिकस्यानुपादित्सा। योगदर्शन 2.32 व्यास भाष्य

36. योगदर्शन 2.42

37. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

38. यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्। योगदर्शन 2.41

(ग)तप :- महर्षि दयानन्द सरस्वती ने “तप” शब्द की निम्नलिखित तीन व्याख्याएं की हैं- (1) पक्षपात रहित न्याय रूप धर्म का सेवन, प्राणायामदि योगाभ्यास करना।³⁹ (2) कष्ट सेवन से भी धर्मयुक्त कार्यों का अनुष्ठान।⁴⁰ (3.) जैसे सोने को अग्नि में तपाके निर्मल कर देते हैं। वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभ-गुणों के आचरण रूप तप से निर्मल कर देना।⁴¹ महर्षि पतञ्जलि के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करते हुए सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहन करना ‘तप’ कहलाता है।⁴² यह तप का सात्विक रूप है। शास्त्रों में इसी तप का विधान है। गीता (17.14-17) में तप के तीन भेद बतलाये हैं - (1) मानसिक तप (2) वाचिक तप (3) शारीरिक तप। मन को विचारों से पवित्र करके शान्त रखना, सत्य का आचरण, कुटिलता का त्याग और शुद्धभाव से व्यवहार करना “मानसिक तप” कहलाता है।

शान्ति उत्पन्न करने वाले वचन बोलना, सत्य, प्रिय और हितकारी वचन बोलना, उत्तम ग्रंथों का अध्ययन, मित भाषण करना। वाचिक = वाणी का तप कहलाता है।

सम्मान के योग माता, पिता, गुरु, विद्वानों और बुद्धिमानों का सत्कार-सेवा करना, शुद्ध रहना, सरलता का व्यवहार करना, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन करना ‘शारीरिक तप’ कहलाता है।

इस प्रकार मानसिक, वाचिक और शारीरिक तप करते हुए चित्त को शुद्ध करना चाहिए। यह सात्विक तप का रूप है।

शास्त्रों में राजसिक और तामसिक तप करने का निषेध है। जो तप और सम्मान को बढ़ाने, पूजा कराने के उद्देश्य से किया जाता है, वह ‘राजसिक तप’ कहलाता है। जो तप शरीर को अनावश्यक कष्ट पहुंचाये, हठधर्मिता पूर्वक किया जाये, जैसे चारों ओर अग्नि जलाकार बैठना, लम्बे समय तक एक पैर पर खड़े रहना, एक हाथ को ऊपर उठाये रखना आदि ‘तामसिक तप’ कहलाते हैं। इनसे कोई लाभ नहीं होता।⁴³

तप का फल- तप के अनुष्ठान से वात, पित्त, कफ की विषमता से उत्पन्न विकार नष्ट होते हैं। शरीर स्वस्थ, बलवान्, स्वच्छ और स्फूर्तिमान् होता है तथा इन्द्रियों में विषयों को दूर से देखने, सुनने आदि की सामर्थ्य बढ़ जाती है।⁴⁴

39. संस्कार विधि: संन्यास प्रकरणम्।

40. सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास।

41. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

42. तपो द्वन्द्व सहनम्। योगदर्शन 2.32

43. अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः। दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलाविन्ताः।।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः। मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्धयासुरनिश्चयान्।। गीता 17.5-6

44. (क) कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। योगदर्शन 2.43।

(ख) पूर्वाक्त तप से उनके शरीर और इन्द्रियाँ अशुद्धि के क्षय से दृढ़ होके सदा रोगरहित रहती हैं।

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

(घ) **स्वाध्याय** :- महर्षि व्यास के अनुसार मोक्ष का उपदेश करने वाले शास्त्रों का अध्ययन तथा प्रणव=ओ३म् का जप करना “स्वाध्याय” कहलाता है।⁴⁵ महर्षि दयानन्द सरस्वती भी इसी अर्थ का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि- “स्वाध्याय अर्थात् मोक्षविद्या विधयक वेदशास्त्र का पढ़ना-पढ़ाना और ओङ्कार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना-कराना।⁴⁶”

प्रस्तुत प्रसङ्ग में स्वाध्याय शब्द के दो अर्थ हैं-सु+अध्याय, उत्तम-उत्तम ग्रन्थों का अध्ययन करना। जिन ग्रन्थों में योग के सिद्धान्तों और मोक्षमार्ग का वर्णन किया गया है उनका अध्ययन करना। जैसे-वेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग, उपवेद, उपनिषद्, दर्शन, गीता आदि।

स्वाध्याय शब्द का दूसरा अर्थ है-स्व+अध्याय = अपने आपका अध्ययन करना। अर्थात् अन्नमयकोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश एवं आनन्दमय कोश को जानकर, अन्तःकरण एवं सूक्ष्म शरीर को समझकर आत्म साक्षात्कार करने के लिए प्रयत्न करना।

स्वाध्याय का फल- स्वाध्याय करने वाले को ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है। योगियों, वैदिक विद्वानों आदि धार्मिक पुरुषों के साथ सम्पर्क हो जाता है और उनसे उसको उत्तम कार्यों में सहायता प्राप्त होती है।⁴⁷ इस विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि - “पूर्वोक्त स्वाध्याय से ईष्ट देवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् सांझा होता है। फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है।”⁴⁸

(ङ) **ईश्वर प्रणिधान** :- पूर्ण समर्पण भाव से ईश्वर की भक्ति करना, लौकिक फलों की कामना से रहित होकर आत्मसाक्षात्कार एवं ईश्वर साक्षात्कार को ही लक्ष्य रखकर कर्तव्य कर्म करते हुए ईश्वर के प्रति समर्पण भाव रखना, ईश्वर प्रणिधान है।⁴⁹

इस विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि- “ईश्वर-प्रणिधानम् अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेम भाव से आत्मा आदि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिए समर्पण करना।”⁵⁰

ईश्वर प्रणिधान का फल- पूर्वोक्त ईश्वर प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है।⁵¹ अन्यत्र उल्लेख है कि-उस ईश्वर प्रणिधान से परमात्मा का साक्षात्कार, जीवात्मा का साक्षात्कार और विघ्नों

45. स्वाध्यायो मोक्ष शास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। योगदर्शन 2.32 व्यास भाष्य

46. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

47. स्वाध्यादिष्टदेवता सम्प्रयोगः। योगदर्शन 2.44। द्र. व्यास भाष्य-देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्त इति।

48. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

49. ईश्वर प्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मापणम्। योगदर्शन 2.32 व्यास भाष्य

50. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

51. वही

का विनाश होता है।⁵²

3. आसन - ध्यान करते समय जिस अवस्था में सुखपूर्वक बैठा जा सके वह 'आसन' कहलाता है।⁵³ महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार- जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो उसको 'आसन' कहते हैं।⁵⁴ आसन दो प्रकार के होते हैं। प्रथम ईश्वर का ध्यान करते समय दीर्घ काल तक सुख पूर्वक एक स्थिति में बैठे रहने के लिए होता है। जैसे - पद्मासन, सिद्धासन आदि। दूसरे प्रकार के आसनों का प्रयोग शरीर को स्वस्थ रखने के लिए व्यायाम के रूप में किया जाता है-हलासन, शीर्षासन, मत्स्येन्द्रासन सर्वाङ्गासन, कोणासन, ओङ्कारासन आदि।

आसन की सिद्धि के दो उपाय हैं: (1) प्रयत्न शैथिल्य=समस्त शारीरिक चेष्टाओं को रोक देना (2.) अनन्त समापत्ति = और अनन्त ईश्वर में ध्यान लगाना।⁵⁵

आसन सिद्धि का फल- आसन सिद्ध हो जाने पर सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों को सहन करने की क्षमता बढ़ जाती है। जिस कारण योगी दुःखी नहीं होता।⁵⁶ महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि- "जब आसन दृढ़ होता है, तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता है और न सर्दी-गर्मी अधिक बाधा करती है।"⁵⁷

4. प्राणायाम- आसन की सिद्धि होने पर श्वास प्रश्वास की गति को रोक देना 'प्राणायाम' कहलाता है।⁵⁸ इस विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि "जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उसको श्वास और जो भीतर से बाहर को जाता है, उसको प्रश्वास कहते हैं। उन दोनों के जाने-आने को विचार से रोके, नासिका को हाथ से कभी न पकड़े किन्तु ज्ञान से ही उनके रोकने को प्राणायाम कहते हैं।"

"और यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है। एक बाह्य विषय, दूसरा आभ्यन्तर विषय, तीसरा स्तम्भवृत्ति और चौथा जो बाहर-भीतर रोकने से होता है।"

"वे चार प्राणायाम इस प्रकार से होते हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले तब उसको बाहर ही रोक दे, इसे प्रथम प्राणायाम कहते हैं। जब बाहर से श्वास भीतर को आवे, तब उसको जितना रोक सके उतना भीतर ही रोक दे, इसको दूसरा प्राणायाम कहते हैं। तीसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर ले जाये किन्तु जितनी देर सुख से रोक सके, उसको जहाँ का तहाँ, ज्यों का त्यों एकदम रोक दे। और चौथा

-
52. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽयन्तरायाभावश्च। योगदर्शन 2.29
 53. स्थिरं सुखमासनम्। योगदर्शन 2.46
 54. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय
 55. प्रयत्नशैथिल्यानन्त-समापत्तिभ्यायम्। योगदर्शन 2.47
 56. ततो द्वन्द्वानभिघातः योगदर्शन 2.48
 57. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय
 58. तस्मिन्सतिश्वासप्रश्वासयोगति विच्छेदः प्राणायामः। योगदर्शन 2.49

यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे तब बाहर ही कुछ-कुछ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जावे, तब उसको भी थोड़ा-थोड़ा रोकता रहे, इसको बाह्याभ्यन्तराक्षेपी कहते हैं।'⁵⁹

प्राणायाम की विधि- उपर्युक्त चार प्रकार के प्राणायाम की विधियां निम्नलिखित हैं-

1. बाह्य प्राणायाम की विधि- आरामदायक आसन पर बैठकर मूलबन्ध, उड्ड्यान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध इन तीनों का अभ्यास करके। मूल बन्ध लगाकर आन्तरिक प्राण वायु को बलापूर्वक बाहर निकालें तथा उड्ड्यान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध भी लगा लें। यथा शक्ति प्राण वायु को बाहर ही रोके रखें। जब घबराहट होने लगे तब बन्धों को छोड़कर धीरे-धीरे प्राण वायु को अन्दर ले लें। तीन-चार श्वास-प्रश्वास लेकर आराम कर लें। यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार अपनी सामर्थ्यानुसार प्राणायाम करें। प्राण वायु को बलपूर्वक अधिक न रोकें। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाते जाएं।

2. आभ्यान्तर प्राणायाम की विधि- बाह्य प्राणायाम का अच्छे प्रकार अभ्यास होने के बाद इस प्राणायाम को करना चाहिए। सुखदायक आसन पर बैठकर अन्दर के प्राणवायु को बाहर निकाल दें। पुनः बाहर के वायु को अन्दर लेकर यथा शक्ति अन्दर ही रोककर रखें। पूर्व की भाँति मूल बन्ध और जालन्धर बन्ध लगायें। जब घबराहट होने लगे तब बन्धों को खोलकर प्राण वायु को बाहर निकाल दें। तीन चार श्वास-प्रश्वास लेकर आराम करें। इसी प्रकार यथाशक्ति अन्य प्राणायाम करें।

3. स्तम्भवृत्ति प्राणायाम की विधि- चलते हुए श्वास-प्रश्वास को एकदम जहाँ का तहाँ रोक देने को स्तम्भवृत्ति प्राणायाम कहते हैं। इसमें न तो प्राण वायु को अन्दर भरा जाता है और न ही बाहर निकाला जाता है। तत्काल जहाँ का तहाँ रोक दिया जाता है। इससे प्राण की गति अवरुद्ध हो जाती है। प्राण रोकने पर जब घबराहट होने लगे तब श्वास-प्रश्वास को लेना शुरू कर दें। इस प्राणायाम के समय पूर्ववत् मूलबन्ध एवं जालन्धर बन्ध को लगाना चाहिए। शक्ति के अनुसार इस प्राणायाम का अभ्यास बढ़ायें।

4. बाह्याभ्यान्तराक्षेपी प्राणायाम की विधि- सुखदायक आसन पर बैठकर प्राण वायु को बाहर निकालें। तीनों बन्धों को लगायें। प्राण वायु को यथा शक्ति बाहर ही रोकें। जब प्राण ग्रहण करने की इच्छा हो तो प्राण वायु को अन्दर न लें अपितु अन्दर के प्राण वायु को बाहर निकालें। इसी प्रकार पुनः प्राणवायु को बाहर निकालें। इस प्रकार शक्ति के अनुसार बार-बार प्राण वायु को बाहर निकालें। प्राण वायु को बाहर निकालते समय जालन्धर बन्ध को ढीला कर लें। घबराहट बढ़ने पर बन्धों को ढीला करते हुए प्राण वायु को अन्दर ले लें और अन्दर ही रोक लें। जब प्राण वायु बाहर आने लगे तो उसको बाहर न जाने दें किन्तु बाहर से और प्राण वायु को भीतर खींचे। इसी प्रकार पुनः प्राण वायु को भीतर खींचे। इस क्रिया को भी शक्ति के अनुसार करें। जब घबराहट हो तो बन्धों को

59. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-उपासना विषय

ढीला करके धीरे-धीरे प्राण वायु को बाहर छोड़ दें। यह 'बाह्याभ्यान्तराक्षेपी' एक प्राणायाम हुआ। अपनी शक्ति के अनुसार इस प्राणायाम का अभ्यास करें।

प्राणायाम का फल- प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास करने से विवेक ज्ञान को ढकने वाला अज्ञान क्षीण हो जाता है। इसमें अशुभ संस्कार और भावी अशुभ कर्म क्षीण हो जाते हैं।⁶⁰ इसके अतिरिक्त प्राणायाम करने से मन में एकाग्रचित होने की सामर्थ्य आ जाती है। योगाभ्यासी जहां कहीं भी मन को रोकना चाहे वहां रोकने में समर्थ हो जाता है।⁶¹

इस विषय में महर्षि दयानन्द का कथन है कि-“इस प्रकार प्राणायाम पूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का ढंकने वाला आवरण जो अज्ञान है, वह नित्य प्रति नष्ट होता जाता है और ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है।”⁶²

“प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्यवृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर, बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा।”⁶³

“जब मनुष्य प्राणायाम करता है, तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।⁶⁴ महर्षि मनु ने लिखा है-

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां च यथा भलाः ।

तथेन्द्रियाणां दह्यन्तेदोषाः प्राणस्य निग्रहात्।⁶⁵

“जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्ण आदि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होता है, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं।”⁶⁶

5. प्रत्याहार - उपर्युक्त प्रकार से योग साधन करते-करते जब साधक का मन निर्मल होकर शान्त हो जाता है तब उसकी इन्द्रियों का व्यापार स्वतः रुक जाता है। क्योंकि इन्द्रियां मन की प्रेरणा से अपने-अपने विषयों की ओर भाग रही थी, जब मन शान्त होकर स्थिर हो गया तो इन्द्रियों का व्यापार स्वतः रुक गया और वे मन के अनुकूल होकर शान्त हो गयीं।

60. ततः क्षीयते प्रकाशवरणम् । योगदर्शन 2.52 द्र. व्यास भाष्य-
तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसार निबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते ।
61. धारणासु च योग्यता मनसः । योगदर्शन 2.53
62. ऋग्वेद भाष्य भूमिका-उपासना विषय
63. सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास ।
64. वही
65. मनुस्मृति 6.71
66. सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास ।

इस प्रकार इन्द्रियों का विषयों से हटकर मन के अनुकूल होना “प्रत्याहार” कहलाता है⁶⁷। इस विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती का कथन है कि “प्रत्याहार उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है। तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है। क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलाने वाला है।”⁶⁸

प्रत्याहार का फल- प्रत्याहार के सिद्ध होने पर इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से वश में हो जाती हैं। फिर किसी अन्य उपाय की इन्द्रियों को वश में करने के लिए आवश्यकता नहीं रहती।⁶⁹

योग के अन्तरङ्ग साधन

6. धारणा – जब बहिरङ्ग साधनों से मन निर्मल एवं शान्त हो जाता है तब मन को अपनी इच्छा अनुसार किसी एक स्थान पर स्थिर करना धारणा कहलाती है। **देशबन्धचित्तस्य धारणा** (योग दर्शन 3.1) भाव यह है कि – साधक जब अपनी इच्छा अनुसार मन को जिस स्थान पर स्थिर करना चाहता है, वहां स्थिर कर लेता है। यह स्थिति धारणा है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का मत-“धारणा उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके ओङ्कार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है उसका विचार करना।”⁷⁰

साधक जब अपने अङ्गों-हृदय, आज्ञा चक्र, नाभि आदि पर मन को स्थिर करके ईश्वर का ध्यान करता है तब ईश्वर उपास्य है और जीव उपासक, यह भाव बना रहता है। यह धारणा का आन्तरिक स्थान है।

जब कोई व्यक्ति किसी सांसारिक पदार्थ के स्वरूप को जानने के लिए अपने मन को उस पदार्थ के किसी भाग पर स्थिर करता है, यह धारणा का बाह्य स्थान है।

7. ध्यान – नाभि, आज्ञाचक्र आदि जिस स्थान पर मन को स्थिर करके ईश्वर का ध्यान धारणा की स्थिति में किया जा रहा है, वह निरन्तर बना रहे, उसके अतिरिक्त कुछ भी विचार या ज्ञान न हो। इस अवस्था को “ध्यान” कहते हैं। **तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्** (योगदर्शन 3.2) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं- “धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है उसके प्रकाश और आनन्द में, अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी

67. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। योगदर्शन 2.54

68. ऋग्वेद भाष्य भूमिका-उपासना विषय

69. ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। योगदर्शन 2.55, इस सूत्र का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि-“तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहाँ अपने मन को ठहराना व चलाना चाहे, उसी में ठहरा और चला सकता है और फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में प्रीति हो जाती है और असत्य में कभी नहीं।”

ऋग्वेद भाष्य भूमिका-उपासना विषय

70. वही

अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना। इसी का नाम ध्यान है।⁷¹

8. समाधि - ध्यान की अन्तिम अवस्था समाधि है। जब जीवात्मा ध्यान के द्वारा पूर्ण रूप से ईश्वर के स्वरूप को जान लेता है और मन को समस्त सांसारिक विषयों से हटाकर ईश्वर के स्वरूप में ही स्थिर कर लेता है, इसी का नाम समाधि है। समाधि में ईश्वर के ध्यान में लीन आत्मा अपने आपको भूल सा जाता है। **तदेव-अर्थमात्र-निभासं स्वरूप-शून्यमिव समाधिः (योगदर्शन 3.3)** इस सूत्र का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि- “जैसे अग्नि में लोहा भी अग्नि रूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके, अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के, आत्मा को परमेश्वर के प्रकाश स्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को ‘समाधि’ कहते हैं।⁷²

महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार ध्यान और समाधि में अन्तर- “ध्यान और समाधि में इतना भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला, जिस मन से, जिस चीज का ध्यान करता है, वे तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है। वहां तीनों का भेद नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मार के थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न हो के फिर बाहर को आ जाता है।⁷³

“जब ध्याता, ध्यान और ध्येय इन तीनों का पृथक भाव न रहे तब जानना कि समाधि सिद्ध हो गयी”⁷⁴

धारणा, ध्यान और समाधि- योग दर्शन में धारणा, ध्यान और समाधि को “संयम” कहा गया है।⁷⁵ महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि - “जिस देश में धारणा की जाये, उसी में ध्यान, और उसी में समाधि, अर्थात् ध्यान करने योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को ‘संयम’ कहते हैं। जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है, अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान, और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है, उनमें बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है। परन्तु जब समाधि होती है, तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है।⁷⁶”

“जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसमें प्रवेश किया चाहें उस समय इस रीति से करें कि कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में, और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है, और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर

71. वही

72. वही

73. वही

74. दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह

75. त्रयमेकत्र संयमः। योगदर्शन 3-4

76. ऋग्वेद भाष्य भूमिका-उपासना विषय

रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है।”

पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त योग साधना श्रद्धापूर्वक नियमित रूप से दीर्घकाल तक उचित आहार; विहार और नियमित दिनचर्या का पालन करते हुए की जाए तो आसानी से सफलता मिल जाती है। अतः योगेश्वर कृष्ण जी कहते हैं -

युक्ताहार-विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।

युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

(गीता 6.17)

अर्थात्-जिसका आहार-विहार नियमित हो, जिसकी कर्म चेष्टायें नियमित हों, जिसका सोना और जागना नियमित हो, योग उसके दुःख दूर कर देता है।

अनियमित आहार-विहार वाले को, अनियमित दिनचर्या वाले को, योग मार्ग में सफलता नहीं मिलती।

नात्यश्नतो योगोऽस्ति न चैकान्तमश्नतः।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुनः ॥

(गीता 6.16)

अर्थात्-जो अधिक खाता है, जो भूखा रहता है, जो अधिक सोता है और जो अधिक जागता है अर्थात् कम सोता है। वह योग में सफल नहीं हो सकता।

“यह उपासना योग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर, अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता, तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता तब तक कितना ही पढ़े वा सुने, उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।”⁷⁷

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।

77. (क) ऋग्वेद भाष्य भूमिका-उपासना विषय
(ख) नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञाननैनामाप्नुयात् ॥ कठोपनिषद् वल्ली-2 मन्त्र 24